ब्रह्म वेद

का

रहस्य

प्रिय रत्न आर्ष

प्रिय ग्रंथमाला संख्या २१

ब्रह्म वेद का रहस्य

(अथर्व वेद का प्रथम अनुवाक)

प्रियरत्न आर्ष

वेदानुसन्धान सदन

वानप्रस्थाश्रम ज्वालापुर-रोड, (हरिद्वार)

प्रकाशक

रामदत्त शुक्ल एम्० ए० ऐडवोकेट

अधिष्ठाता

घासीराम प्रकाशन-विभाग

आर्य-प्रतिनिधि-सभा संयुक्त प्रांत

लखनऊ

प्रथमवार १००० | १९४० ई० | मूल्य ≡)

दो शब्द

आर्ष-संस्कृति वीथी पथिक आचार्य चाणक्य ने "न वेदबाह्यो धर्मः" इस एक ही सूत्र के द्वारा वेद की महिमा का अलौकिक रीति से प्रतिपादन किया है। भारतीय संस्कृति के लिये वेद प्राण-स्वरूप हैं। वेद विज्ञान-रहस्यार्थ उपलब्धि में निरत प्रत्येक आर्ष प्राण नर और नारी के लिये ब्रह्म वेद [अथर्व वेद] का यह अमर सन्देश सदा प्रकाश स्तम्भ [Search light] का काम देता रहे, "पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति" इस प्रयोजन-पूर्त्ति के हेतु संयुक्तप्रांतीय आर्य-प्रतिनिधि-सभा ने अनेक पुस्तकें प्रकाशित की हैं। उसी शिव प्रयास परम्परा में प्रस्तुत "ब्रह्मवेद का रहस्य" स्वाध्यायशील पाठकों के समक्ष है। वेद-साहित्य-मनीषी श्री प्रियरत्न जी आर्ष महोदय ने सर्व-साधारण के हितार्थ इस पुस्तक में अनेक मननीय और अनुसन्धान-पूर्ण तत्त्वों का परिश्रम के साथ समावेश किया है। वेद-स्वाध्यायी मात्र ऐसी पुस्तकों से विशेष लाभान्वित हो सकते हैं।

प्रकाशक

सम्मति

श्रीपं० प्रियरत्न जी आर्ष द्वारा लिखा हुआ "अथर्व वेद का प्रथम अनुवाक" नामक निबन्ध मैंने ध्यान-पूर्वक सुना। इस में संदेह नहीं कि निबन्ध बड़ी योग्यता 'गवेषणाशक्ति' तथा समालोचनात्मक बुद्धि का निदर्शक है। विद्वान् लेखक की व्याख्यापद्धति तथा वैदिक विचारों की पारस्परिक समन्वय-शैली सर्वथा स्पृहणीय है। आशा है वह इसी प्रकार वैदिक रहस्यों के उद्घाटन का अपना सत्प्रयत्न जारी रक्खेंगे। जिससे वैदिक साहित्यानुशीलन का प्रचार हो।

मंगलदेव शास्त्री एम्० ए०, डी० फिल.

प्रिंसिपल
गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज
बनारस

सरस्वती-भवन
बनारस
७ । ५ । १६४०

ब्रह्म वेद का रहस्य

(अथर्व वेद का प्रथम अनुवाक)

अथर्व वेद को ब्रह्म वेद भी कहते हैं—"चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेदः" (गोपथ। ब्रा० २।१६) प्रथम अनुवाक में छ सूक्त हैं, मन्त्रार्थ की त्रिविध दृष्टि अर्थात् आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक प्रक्रिया से समस्त अनुवाक का एकीकरण आधिदैविक दृष्टि में होता है। आध्यात्मिक-दृष्टि (शरीरान्तर्गत दृष्टि) में प्रथम तीन सूक्तों का समन्वय होता है और आधिभौतिक दृष्टि (व्यावहारिक दृष्टि) में तो प्रथम तीन सूक्तों में भी एक-एक सूक्त की पृथक्-पृथक् विषय-वस्तु निर्धारित करनी पड़ती हैं। एवं यहाँ प्रधानत्व आधिदैविक दृष्टि का है, अत एव प्रथम आधिदैविक दृष्टि से मन्त्रार्थ विचार करते हैं।

प्रथम सूक्त के प्रथम मन्त्र में "त्रिषप्ताः" शब्द आता है, इसका अर्थ स्पष्ट हो जाने से सूक्तार्थ खुल जाता है क्योंकि उक्त शब्द सन्दिग्ध तथा महत्त्वपूर्ण है। भाष्यकार सायण ने अथवा अथवा करके तीन प्रकार से इसके अर्थ किये हैं। अन्य विद्वानों ने भी इसके अनेकार्थ किये हैं। यह पद संख्यावाचक बहुव्रीहि समास का है, बहुव्रीहि अन्य पदार्थ में होता है। इस समस्त पद में 'त्रि' और 'सप्त' ये दो शब्द हैं। सायण आदि विद्वानों ने इसके अर्थ में 'त्रि' शब्द से जितने भी त्रिक (संगठित तीन वस्तुएँ) हैं लिये हैं, जैसे पृथिवी-अन्तरिक्ष, द्युलोक। अग्नि, वायु, आदित्य। सत्व,

रज, तम । ब्रह्म, विष्णु, महेश्वर । भूत, वर्तमान, भविष्यत् । ईश्वर, जीव, प्रकृति । सृष्टि, स्थिति, प्रलय । बाल्य, यौवन, जरा । स्त्री, पुमान्, नपुंसक । वात, पित्त, कफ । अ, उ, म्, । भूः, भुवः, स्वः । एकवचन, द्विवचन, बहुवचन । और 'सप्त' शब्द से जितने भी सप्तक (संगठित सात पदार्थ) हैं लिए हैं, जैसे सप्त ऋषि । सप्त ग्रह । सप्त मरुद्गण । सप्त छन्द । सप्त दिशाएँ । सप्त ऋत्विज । सप्त आदित्य । सप्त सिन्धु । पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, पञ्चतन्मात्र, अहंकार । सप्त लोक । रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र । भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम् । सप्त स्वर । सप्त विभक्तियाँ । सप्त रंग । इत्यादि अर्थ 'त्रिषप्ताः' शब्द के उन उन विद्वानों की दृष्टि में ठीक हो सकते हैं परन्तु यह एक असमञ्जस की बात है क्योंकि इतने अर्थों की एक प्रकरण में सङ्गति नहीं हो पाती । किन्हीं अर्थों को लेकर कुछ दूर तक एक प्रकरण होता नहीं दीखता । दूसरे "त्रिषप्ताः" का "त्रयो वा सप्त वा" ऐसा विग्रह करके 'त्रि' से कुछ त्रिक और 'सप्त' से कुछ 'सप्तक' अर्थ लिये जाते हैं, परन्तु इस विग्रह में सांशयिक अर्थ ही लिया जा सकता है जो कि परस्पर समीप की संख्याओं में होता है, जैसे 'द्वित्राः' 'त्रिचतुरः' दो तीन या तीन चार । निश्चित न दो न तीन, एवं निश्चित न तीन न चार । सो ऐसा अर्थ 'त्रिषप्ताः' में नहीं लिया जा सकता क्योंकि तीन और सात में बहुत अन्तर है । संशय में तीन हैं या सात हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता और विकल्प पक्ष मानकर एक वर्ग में तीन हैं और दूसरे वर्ग में सात कहे जा सकते हैं, ऐसा करना समास शास्त्र के विपरीत है क्योंकि अन्यपदार्थता की हानि है । यहाँ 'त्रिषप्ताः' का समासार्थ उसका एक अवयव हो जाता है 'त्रि' तीन 'सप्त' सात । अतः यह मार्ग भी उपादेय न रहा । हाँ, एक ढंग

से ऐसा अर्थ लिया जा सकता है वह इस प्रकार कि कुछ पदार्थ हैं उनको एक दृष्टि से तीन और उन्हीं को दूसरी दृष्टि से सात कह सकते हैं, ऐसे पदार्थ भौतिक जगत् में लोक हैं जो लोकत्रय भी हैं और उन्हीं को सप्तलोक भी कहते हैं। एवं अध्यात्म (शरीर) में धातु हैं जो धातुत्रय अर्थात् वात, पित्त, कफ और वे ही परिणत होकर रस आदि सप्त धातु हैं। यह अर्थ प्रथम मन्त्र में तो अच्छा लगता है परन्तु समस्त प्रकरण में सङ्गति नहीं खाता।

'त्रिषप्ताः' में तीन और सात मानकर दश अर्थ करें इसका अवकाश ही यहाँ नहीं है क्योंकि यह द्वन्द्व समास का विषय है किन्तु यहाँ है बहुव्रीहि। 'त्रिषप्ताः' त्रिगुणित सप्त करके एकीस अर्थ होता है परन्तु यह अर्थ भी नहीं लिया जा सकता क्योंकि गुणित शब्द का लोप हो जाने से अविहित (अशास्त्रीय) समास हो जाता है। अब 'त्रिषप्ताः' में महाभाष्य व्याकरणानुसार सुजर्थ लेना चाहिये अर्थात् 'त्रिःसप्त' तीन आवृत्ति करके सात-ऐसे सात जो तीन स्थानों में को प्रगति करते हैं वे यहाँ अभीष्ट हैं। कोई विद्वान् सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों में पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, पञ्चतन्मात्र, अहङ्कार इन सात को चलाकर अर्थ करते हैं परन्तु इस अर्थ में पञ्चतन्मात्र को एक वस्तु माना है जो वास्तव में पाँच हैं एक नहीं, सांख्यसूत्र में भी "पञ्च-तन्मात्राणि "(सांख्य। १।६१) बहुवचन निर्देश है। इससे अच्छा तो प्रकृति की साम्यावस्था के सत्व, रज, तम गुणों में उसके विकाररूप महत्तत्व, अहङ्कार, पंचतन्मात्रएँ ये सात ले लेना अधिक उचित है, परन्तु यह अर्थ भी प्रकरण को पूरा नहीं करता। अस्तु। हमारा यहाँ यह विचार है कि हम पूरे अनुवाक को एक शृङ्खला में बँधा हुआ एक प्रकरण में गठा हुआ देखना चाहते हैं। अस्तु। अनुवाक में छ सूक्त हैं, पिछले ४ से ६ तीन सूक्तों में "आपः"

(जलों) का वर्णन है, तीसरे सूक्त में मूत्र शब्द से एक प्रकार से जल का ही वर्णन है और दूसरे सूक्त में शर और उसके पिता पर्जन्य आदि देवताओं पर विचार किया है यों तो 'शर' का अर्थ जल (मेदनीकोष) और पर्जन्य अर्थात् मेघ स्वयं जलरूप है तथापि छओं दिशाओ के पर्जन्य आदि देवताओं और पृथिवी को कोटियाँ (धनुष-दण्ड के सिरे) तथा उनके मध्य "आपः" अप्-तत्त्व-धारा ज्या (धनुष डोरी) के रूपक में आकर भिन्न-भिन्न दिशाओं के शर अर्थात् शर की भाँति प्रगतिशील या वेगशील पदार्थों को हम तक (पृथिवी के बहिस्तल पर) प्रेरित करते हैं। रहा प्रथम सूक्त, इसमें भी 'त्रिषप्ताः' शब्द से "आपः" (जल) समझे जावें तो यह सारा अनुवाक एक शृंखला में बंध जाता है । एक प्रकरण में गठ जाता है तथा इस प्रथम अनुवाक में "आपः" (अप्तत्त्वों—जलों) का वर्णन हो जाने से अथर्ववेद का प्रथम विषय भी निर्धारित हो जाता है। ऋग्वेद में पृथिवीस्थानी अग्नि, यजुर्वेद में अन्तरिक्षस्थानी विद्युन्मय वायु, सामवेद में द्यु स्थानी आदित्य का प्रथम विषय है। उन तीनों अग्नियों का अधिष्ठान या अभिव्यंजक (प्रकटता का साधन) सर्वस्थानी "आपः" का प्रतिपादन करना अथर्ववेद का प्रथम विषय होना महत्त्वपूर्ण और युक्तिसंगत है। जलों से अग्नि की प्रकटता होती है यह बात प्रमाणित भी है "अद्भ्यो वा एषोऽग्निः प्रथममाजगाम" (श० ६ । ७ । ४ । ४) इस प्रकार प्रथम अनुवाक में "आपः" का वर्णन हो जाने से द्वितीय अनुवाक में वर्णित अग्नि से एक सूत्रता भी हो जाती है। अस्तु।

अब "त्रिषप्ताः" शब्द का सुजर्थव्युत्पत्ति से "सुजभावोऽभिहितार्थत्वात्समासे" (महाभाष्य । २ । २ । २) तीन आवृत्ति में आनेवाले सात, तीन स्थानो में होनेवाले सात, जैसे "द्विदशाः" (महाभाष्य ।

२।२।२) दो आवृत्ति में आनेवाले दश-दो स्थानों में विद्यमान दश, कुल बीस परंतु दो वर्गों में दश दश करके। इसी प्रकार "त्रिषप्ताः" तीन आवृत्ति में आनेवाले सात कुल एक्कीस परन्तु तीन वर्गों में सात सात करके चलनेवाले ही समासार्थ है। एवं इस लक्षण के अनुसार "त्रिषप्ताः" के "आपः" अर्थ में ऋग्वेद का प्रमाण है "प्र सु व आपो महिमानमुत्तमं कारुर्वोचाति सदने विवस्वतः प्र सप्त सप्त तेधा हि चक्रमुः ॥" (ऋ० १०।७५।१) इस मन्त्र में स्पष्ट रूप से "आपः" (जलों) को "सप्त सप्त त्रेधा प्रचक्रमु." तीन जगह में सात सात होकर प्रगति करते हैं ऐसा कहा है, सायण ने भी उक्त मन्त्र के भाष्य में कहा है "त्रेधा पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवि च" पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक इन तीन स्थानों में प्रगति करते हैं। "आपः" तीनों लोकों में हैं इसके अन्य प्रमाण भी हैं "इयं पृथिवी वा अपामयनमस्यां ह्यापो यन्ति" (श० ७।५।२।५०" अन्तरिक्षं वा अपां सधस्थम्" (श० ७।५।२।५७) "द्यौर्वा अपां सदनम्" (श० ७।५।२।५६) इन प्रमाणों में पृथिवी को जलों का अयन, अन्तरिक्ष को जलों का सधस्थ और द्युलोक को जलों का सदन बतलाया है। इसी अनुवाक के चतुर्थसूक्त में कहा भी है कि "अमूर्या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह" जो "आपः (अप् तत्व) सूर्य में विद्यमान हैं अथवा जिनके द्वारा सूर्य प्रकाशमान होता है। इस प्रकार तीनों लोकों में प्रगति करनेवाले "आपः" (अप्-तत्वों) का स्थूल रूप द्युलोक में सप्त रश्मियां, अन्तरिक्ष में सप्त मरुद्-गण (वायु प्रतिधियाँ-वायुस्तर-वायु परत) और पृथिवी पर सप्त जल प्रवाह हैं। इन त्रिस्थानी अपतत्वों से क्रमशः द्युलोक में सूर्य, अन्तरिक्ष में विद्युत्-या विद्युन्मय वायु और पृथिवी पर अग्नि ये तीनों अग्नियाँ प्रकट होती तथा बल पाती हैं। इन ऐसे "आपः" से समस्त जगत् आप्त-व्याप्त है, कहा

भी है "तद्यदब्रवीद् ब्रह्म आभिर्वा अहमिदं सर्वमाप्स्यामि यदिदं किञ्चेति तस्मादापोऽभवन् (गोपथ० पू० १ । २) "अद्भिर्वा इदं सर्वमाप्तम्" (श०१ । १ । १ । १४) ये ऐसे "आपः" "त्रिषप्ताः" नाम से यहाँ कहे गए हैं । अस्तु । अब मन्त्रार्थ करते हैं ।

प्रथमसूक्त—

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः ।
वाचस्पति र्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥ १ ॥

अर्थ—(ये) जो 'जगत् में प्रधान पादार्थ' (त्रिषप्ताः) तीनों-पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोक में सात सात भेद से वर्तमान हुए "आपो ...प्र सप्त सप्त त्रेधा हि चक्रमुः" (ऋ० १० । ७५ । १) "आपः" अप्तत्व-सात रश्मियाँ विद्युन्मय सात वायुस्तर, सात जल-प्रवाह (विश्वा) सब (रूपाणि) स्वरूपवान् या निरूपण करने योग्य-उत्पन्न हुई वस्तुओं को (बिभ्रतः) धारण और पोषण करते हुए (परियन्ति) परिक्रमा करते हैं—सब ओर गति करते हैं (तेषाम्) उनके (बला) बलों-सामर्थ्यों को (मे) मेरे (तन्वः) शरीर में "सुपां सुपो भवन्तीति ङि स्थाने ङस्" (अद्य) आज अब तिरन्तर (वाचस्पतिः) वेदवाणी का स्वामी प्रजापित परमेश्वर या समष्टि-सृष्टि का प्राण सूत्रात्मा वायु "प्रजापतिर्वै वाचस्पतिः" (श० ५।१।१।१६)" "प्राणो वै वाचस्पतिः (श० ४।१।१।६१) (दधातु) धारण करे संस्थापित करे अन्दर प्रविष्ट करे ॥ १ ॥

आशय—सृष्टि में सबसे प्रथम मातृरूप में "आपः" प्रकट हुए* वे ही समस्त जगत् में आप्त-व्याप्त हैं उन्हीं के स्थूल रूप द्युलोक में सात किरणें, अन्तरिक्ष में सात विद्युन्मय वायुस्तर, पृथिवी तल पर सात जल प्रवाह हैं । उन्हीं से संसार के छोटे बड़े पदार्थ उत्पन्न होते हैं और उन्हीं के आधार पर पुष्ट होते तथा विस्तार पाते हैं ।

* "अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवाकिरत्" । (मनु०)

वे ही सभी गतिमान् वस्तुओं को गति देनेवाले हैं। द्यु लोक में वे सात रश्मियों के रूप में आकाशीय समस्त ग्रह-तारामंडल को अपने संवेश (घेरे) में रखते हुए उन्हें पथप्रदान करते हैं। वे ही अन्तरिक्ष में विद्यु न्मय सात वायुस्तरों के रूप में पदार्थों के कणों अभ्र आदि दलों और शब्द आदि गुणों को स्थानान्तर में जाने के लिये मार्ग देते हैं, वे ही पृथिवी-तल पर जल प्रवाहों के रूप में पार्थिव अंशों और प्राणियों को चलने के लिये रास्ता दिखाते बनाते और देते हैं। इन ऐसे त्रिस्थानी अप्तत्वों के बल सर्वज्ञ परमेश्वर की आराधना और सूत्रात्मा वायु की साधना से शरीर में स्फुर्ति-तेज-जीवन के रूप में प्रकट होते हैं॥

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह।
वसोष्पते निरमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥ २ ॥

अर्थ—(वाचस्पते) हे वेदवाणी के स्वामिन् प्रजापति परमात्मन्! या समष्टि के प्राणरूप सूत्रात्मा वायु! (देवेन मनसा सह) सत्य-शुद्ध मन से या यथार्थ मनन के द्वारा "सत्यमेव देवाः" (श० १।१।१।४) (पुनः-एहि) बारम्बार आ बारम्बार मन का अवलम्बन या लक्ष्य बन (वसोः—पते) हे सृष्टियज्ञ के पालक! "यज्ञो वै वसुः" (श० १।७।१।९) (मयि) मेरे शरीर में (एव) अवश्य (निरमय) उन "आपः" अप्तत्त्वों के बलों को सात्म्यकर-समाविष्ट कर-अङ्गीभूत कर (मयि) तथा मेरे अन्तः-करण में (श्रुतम्) उनका श्रवण-ज्ञान (अस्तु) हो-स्थिर हो॥ २ ॥

आशय—सच्चे मन से शुद्ध अन्तःकरण से आराधन करने पर परमेश्वर का साक्षात् होता है, यथार्थ मनन करने से विश्वनियन्ता सूत्रात्मा वायु का ज्ञान प्राप्त होता है वही सृष्टियज्ञ का रक्षक उन अप्तत्त्वों के बलों को शरीर में और उनके ज्ञान को मन में स्थिर

कराता है क्योंकि उसके आधार पर वे समस्त अप्तत्त्व परिभ्रमण करते हैं ॥ २ ॥

इहैवाभि वितनूभे आर्त्नी इव ज्यया ।
वाचस्पति र्नियच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥ ३ ॥

अर्थ—(इह-एव) इसी मेरे जीवन में (उभे) पूर्वोक्त अप्-तत्त्वों के बल और ज्ञान दोनों (ज्यया) धनुष में बन्धी हुई डोरी (आर्त्नी इव) जैसे दोनों दण्ड के सिरों को (अभिवितनु) संगत करती है वैसे संगत कर-संयुक्त कर। तथा (वाचस्पतिः) वह आप परमात्मा (मयि-एव) मेरे में अवश्य (नियच्छतु) नियन्त्रित करें। और (मयि) मेरे में (श्रुतम्) ज्ञान हो ॥ ३ ॥

आशय—लक्ष्यवेध की भाँति नियमित रीति में निदीध्यासन (यत्न) करने से सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तुओं का भी गुण और ज्ञान मनुष्य प्राप्त कर सकता है ॥ ३ ॥

उपहूतो वाचस्पतिरुपास्मान् वाचस्पति र्ह्वयताम् ।
संश्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन विराधिषि ॥ ४ ॥

अर्थ—(वाचस्पतिः) वेदवाणी का स्वामी परमात्मा (उप-हूतः) जब भी हम से अपनाया गया हो-जब भी हमने उसे अपनाया हो (वाचस्पतिः) वह हमारी वाणी और अन्तःस्थ ज्ञान का स्वामी परमात्मा (अस्मान् उपह्वयताम्) हमें अपनाता है। ऐसे अपनाने वाले परमात्मा के अन्दर (श्रुतेन) श्रवण से-श्रवण-चतुष्टय से-श्रवण मनन निदीध्यासन और साक्षात्कार से (सङ्गमेमहि) समाहित हों (श्रुतेन) उक्त श्रवण से (मा विराधिषि) मैं वियुक्त-अलग न होऊँ ॥ ४ ॥

आशय—सर्वज्ञ अन्तर्यामी परमात्मा को हम जिस क्षण से आत्मभाव से अपनाना शुरू करते हैं वह भी निःसन्देह हमें उसी क्षण से अपनाता है, वह हमें अपनानेवालों में अनूपम अपनानेवाला

है ; क्योंकि वह निर्भ्रांत है। उसे सत्पात्रता जानने में क्षण-भर भी विलम्ब का अवकाश नहीं है। उसके समागम का मात्र श्रवण ही एक साधन तथा परम उपाय है ॥ ४ ॥

द्वितीय सूक्त—

पूर्व सूक्त में वर्णित "आपः" सर्वत्र व्यापक अप्तत्त्वधाराओं के रूप में परिभ्रमण करते हुए छओं दिशाओं के देवताओं और हमारी पृथिवी के बीच ज्या (धनुष की कोटियों में डोरी) बनकर 'शर' (इषु-बाण) फेंकते हैं। वे शर (इषु-बाण) उन-उन दिशा-सम्बन्धी देवताओं की दिव्य-शक्ति के फल-स्वरूप हैं। इन शरों-इषुओं का वर्णन अथर्ववेद के (३।२७।१—६) में आता है उन शरों-इषुओं बाणों-बाणसदृश प्रक्षेपणीय (फेंकने योग्य) पदार्थों की प्रक्षेपणी ज्या (फेंकनेवाली डोरी) "आपः" सर्वत्र व्यापक अप्तत्त्व धाराएँ हैं, उक्त ज्या रूप अप्तत्त्व दिशाभेद से किन-किन को कोटी बनाते हैं और उन शररूप पदार्थों से दोष दूरी करण होता है। यह समस्त रूपक दूसरे तथा तीसरे सूक्त में है। दूसरे सूक्त के प्रथम मन्त्र के पूर्वार्द्ध को छोड़कर समस्त मन्त्रों का तीसरे सूक्त के प्रत्येक मन्त्र के साथ अनुवर्तन होता है। और तीसरे सूक्त के मन्त्रों के उत्तरार्द्ध भी पुनः पुनः पढ़े हैं, हम इन सबका एकीकरण करके अर्थ करते हैं जिससे अर्थों में पुनरावृत्ति न हो तथा समझने में सुगमता हो।

विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं भूरिधायसम्।
„ „ „ पर्जन्यं शतवृष्ण्यम्।
„ „ „ मित्रं शतवृष्ण्यम्।
„ „ „ वरुणं शतवृष्ण्यम्।
„ „ „ चन्द्रं शतवृष्ण्यम्।
„ „ „ सूर्यं शतवृष्ण्यम्।
विद्मोष्वस्य मातरं पृथिवीं भूरिवर्पसम्॥

अर्थ—(शरस्य) अधो दिशा से आनेवाले वीरुध ओषधि रूप शर के[1] (पितरम्) जनक (भूरिधायसम्) बहुत प्रजाधारक-बहुत ओषधि आदि सृष्टि के धारक (पर्जन्यम्) पृथिवी के अन्दर वर्तमान अग्नि को[2] एवं (शतवृष्ण्यं पर्जन्यम्) ऊर्ध्वा दिशा से प्राप्त होनेवाले वर्षा रूप शर के[3] जनक बहुत बरसानेवाले स्तनयित्नु नाम के गर्जनेवाले अभ्रमण्डल को[4] (मित्रम्) दक्षिण दिशा से प्राप्त होनेवाले ऋतुरूप शर के जनक वायु को[5] (वरुणम्) उत्तर दिशा से व्याप्त होनेवाली विद्युद्-धारा-रूप शर के जनक ध्रुव अर्थात् आकर्षक विद्युद्भण्डार को[6] (चन्द्रम्) पश्चिम दिशा से उठनेवाले चन्द्रिका रूप शर के जनक चन्द्र को[7] (सूर्यम्) पूर्व दिशा से आनेवाले किरण रूप शर के जनक सूर्य को[8] (विद्म) जानते हैं। तथा (अस्य) इसकी (मातरम्) धारण करनेवाली माता

---

(१) "ध्रुवादिग्......वीरुध इषवः।"

(२) "पर्जन्यो वा अग्निः" (श० १४।६।१।१३)

(३) "ऊर्ध्वा दिग्......वर्षमिषवः।"

(४) "पर्जन्यो मे मूर्ध्नि श्रितः" (तै० २।१०।८।८) "क्रन्दतीव पर्जन्यः" (श० ६।७।३।२) "यत्पर्जन्यः स्तनयन्" हन्ति दुष्कृतः" (ऋ० ५।८३।२)।

(५) "दक्षिणा दिग्......पितर इषवः" "ऋतवः पितरः" (श० २।४।२।२४) "अयं वै वायुर्मित्रो योऽयं पवते" (श० ६।५।४।१४)

(६) "उदीची दिग्...अशनिरिषवः।"

(७) प्रतीची दिग्...अन्नमिषवः" "अन्नमु चंद्रमाः" (श० ८।३।३।११)

(८) प्राची दिग्..."आदित्या इषवः।"

(भूरिवर्पसम्) बहुरूपा[६] (पृथिवीम्) पृथिवी को (सु) भली-भाँति (उ) अवश्य (विद्म) जानते हैं ॥

ज्याके परिणो नमाश्मानं तन्वं कृधि ।
वीडुर्वरीयोऽरातीरप द्वेषांस्या कृधि ॥

अर्थ—(ज्याके) हे ज्या सदृश—धनुष डोरी के सदृश अप-पंक्ति-अप् तत्त्वधारा ! "इवार्थे कन्" (अष्टा० ५।३।९६) (नः) तू हमारे लिये (परिणम) मृदु-सुखसाधिका के रूप में परिणत हो

---

(६) "वर्प इति रूपनाम" (निरु० २।७) ।

(तत्त्वम्) हमारे शरीर को (अश्मानम्) सुदृढ़-रोग आदि से अबाध्य (कृधि) कर (वीडुः) बल रूप होती हुई "वीडुर्बलनाम" (निघं० २।६) (अरातीः) सुख न देनेवालों-बाधकों और (द्वेषांसि) द्वेष करने के योग्य-रोगों को (वरीयः) अत्यधिक (अपाकृधि) पृथक् कर ॥

वृक्षं यद् गावः परिषस्वजाना अनुस्फुरं शरमर्चन्त्यृभुम् ।
शरुमस्मद्यावय दिद्युमिन्द्र ॥

अर्थ—(यत्) कि जिस प्रकार (गावः) ज्या-धनुष की डोरियों के सदृश अप् तत्त्व धाराएँ (वृक्षम्) धनुर्दण्ड को—कोटियों को—धनुष के दोनों सिरों को—उनके सदृश द्यावा पृथिवी को या दिग्देवता और पृथिवी को "ज्यापि गौरुच्यते-वृक्षे वृक्षे नियता मीमयद् गौः । वृक्षे-वृक्षे धनुषि धनुषि" (निरुक्त० २।६) (परिषस्वजानाः) आलिङ्गन करती हुई (ऋभुम्) तीक्ष्ण (शरुम्) बाण को (अनुस्फुरम्) प्रेरणानुकूल (अर्चन्ति) फेंक सकें । वैसे (इन्द्र) हे दोषनिराकृत करनेवाले शक्तिमन् परमात्मन् ! (दिद्युम्) चमचमाते हुए (शरुम्) बाण को (अस्मद्) हमारे लिये "सुपां सुलुक् .." (अष्टा० ७।३।३६) (यावय) जोड़ "यु मिश्रणामिश्रणयोः" ॥

यथा द्यां च पृथवीं चान्तस्तिष्ठति तेजनम् ।
एवा रोगं चास्रावं चान्तस्तिष्ठतु मुञ्ज इत् ॥

अर्थ—(यथा) जैसे (द्यां च पृथिवीं च-अन्तः) द्युलोक और पृथिवीलोक के बीच (तेजनम्) उनका प्रेरक अप् तत्त्व (तिष्ठति) रहता है (एव) वैसे ही (रोगं च आस्रावं च अन्तः) ऊर्ध्व-रोग और अधो अङ्गगत कष्ट के बीच में (मुञ्ज इत्) उनका प्रेरक ओषधि रसरूप अप् तत्त्व "ऊर्वा मुञ्जः" (तै० ३ । ८ । १ । १) (तिष्ठतु) रहे ॥

तेना ते तन्वे ३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनम्।
बहिष्टे अस्तु बालिति ॥

अर्थ—(तेन) उस ओषधि वर्षा आदि रूप वाण से (ते तन्वे) हे पात्र ! या यजमान ! तेरे शरीर में (शंकरम्) सुख पहुँचाता हूँ (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (ते निषेचनम्) तेरा दोष आवे (ते बालिति बहिरस्तु) वह तेरा शीघ्र बाहर आवे ॥

आशय—इन मन्त्रो में धनुष का एक सुन्दर रूपक है, सर्वान्तर्यामी विभुदेव परमात्मा बाण वर्षक है इस पृथिवी पृष्ठ पर वह अपने वाण छओं दिशाओं से फेंकता है और छओं दिशाओं के सूर्य आदि देवता और पृथिवी छ धनुष कोटियाँ हैं, इन कोटियों के बीच में ईश्वर के रचे पूर्व सूक्त में कहे "आपः" अप्तत्त्वधाराएं उक्त छहों धनुषों की ज्याएँ-डोरिया हैं, इन डोरियों के द्वारा प्रेरित किए जानेवाले-फेंकेजानेवाले छहों दिशाओं से आनेवाले ओषधि, वर्षा, ऋतुएँ, चुम्बकीय विद्युद्धाराएँ, चन्द्रिकाएँ और किरणें ये छ वाण हैं इन वाणों के जनक उन छओं दिशाओं के अग्नि, अभ्रमण्डल, मित्र (वायुकेन्द्र), वरुण (ध्रुव-आकर्षक विद्युत्केन्द्र), चन्द्र, सूर्य देवता हैं। उक्त वाणों को धारण करनेवाली पृथिवी है। वाण फेंकनेवाली इन्द्रशक्ति है। इस रूपक से ध्वनित होता है कि माता-पिताओं के अन्दर भी इन्द्रशक्ति (जीवात्मत्वशक्ति) होती है जो सन्तति बीज की प्रेरक है। यदि माता पिता रूपी कोटियों के बीच ज्या-रूप अप्तत्त्वधाराएँ शरीरगत रस धाराएँ एवं परस्पर दोनों को बान्धनेवाली एक दूसरे को खींचनेवाली शक्तियाँ और गुण हों तो उत्तम सन्तान का जन्म होता है। दूसरी बात रूपक में यह बतलाई है कि उक्त छओं दिशाओं से ओषधि, वर्षा आदि वाणों को फेंकनेवाली अप्तत्त्व धाराएँ-सर्वत्र व्यापक 'आपः' यथावत् ज्ञान से हमारे शरीर को

पुष्ट करते हैं और रोगों तथा रोग-जन्तुओं को हटाते हैं। उन अप् तत्वों को मानो ये ओषधि वर्षा आदि बाण एक प्रकार से उनका तेज होता है जो शरीर के अन्दर से शीघ्र दोष दूर करके ऊपर नीचे के दोनों प्रकार के रोगों को हटाता है ॥

यदान्त्रेषु गवीन्योर्यद्वस्तावधि संस्रुतम् ।
प्र ते भिनद्मि मेहनं वर्त्रं वेशन्त्या इव ।
विषितं ते वस्तिबिलं समुद्रस्योदधेरिव ।
यथेषुका परापतदवसृष्टाधि धन्वनः ।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥

अर्थ—(आन्त्रेषु) अन्त्रों-आन्तों के समीप अर्थात् गुर्दों के नाड़ी तन्तुओं में "अदूरभवश्च" (अष्टा० ४ । २ । ७०) (गवीन्योः) दो मूत्र प्रणालियों में (वस्तौ) मूत्राशय में (अधिसंस्रुतम्) झिर झिरकर आया हुआ तथा (वेशन्त्याः) रुके हुए जलाशय-झील के (वर्त्रम्-इव) बहने से रोकनेवाले बान्ध की भांति (ते महनम्) तेरे रुके मूत्राशय-द्वार को (प्रभिनद्मि) विकसित करता हूँ खोलता हूँ और (समुद्रस्य) उत्प्लुत अर्थात् भरपूर किनारों से बाहर निकलने को उद्यत (उदधेः-इव) तालाब की भांति (ते वस्तिबिलम्) तेरा मूत्रपात्र-मूत्राशय (विषितम्) आवरण रहित-रुकावट से रहित हो। और (यथा) जैसे (अधि-धन्वनः) नमाई हुई धनुष से (अवसृष्टा) छुटा हुआ (इषुका) बाण (परापतत्) अतिवेग से दूर गिरता है। (एव) ऐसे ही (ते मूत्रम्) तेरा जितना मूत्र है (सर्वकम्) प्रायः वह सब ही (बालिति) वेग से स्फुरता हुआ (बहिः) बाहर (मुच्यताम्) छूट जावे ॥

आशय—जिस प्रकार बाहर विश्व में "आपः" अप् तत्त्व धाराएँ सर्वत्र परिभ्रमण करते हुए विश्व को जीवन और गति देते हुए चार भाग को

साथ बहाकर समुद्ररूप निम्न स्थान में छोड़ते हैं एवं शरीर के अन्दर भी वे 'आप': अप् तत्त्व धराएँ शरीर में सर्वत्र परि भ्रमण करते हुए शरीर को जीवन और गति देते हुए क्षार भाग को साथ बहाकर मूत्राशय रूप निम्न स्थान में छोड़ते हैं। वह मूत्र शरीर में रुक जावे तो परिमित मूत्राशय भर जाने से ऊर्ध्वाङ्ग और अधोऽअङ्ग के रोग हो जाते हैं शरीर की जीवन शक्ति और आन्तरिक गति को क्षति पहुँच जाती है। ऐसी स्थिति में गुर्दों की नाडियों और मूत्राशय से मूत्र निकालने के लिये उन छओं दिशाओं से प्राप्त होनेवाले उपचारों के द्वारा मूत्र स्थानों में मृदुता लाकर प्रतिबन्ध हटाकर मूत्र बाहर निकालना चाहिए॥

चतुर्थसूक्त—

अम्बयो यन्त्यध्वभि र्जामयो अध्वरीयताम्।
पृञ्चतीर्मधुना पयः ॥१॥

अर्थ—(अध्वरीयताम्) सृष्टि यज्ञ चाहनेवालों के (अम्बयः) शब्द करनेवाले (जामयः) 'आपः' प्रवाहित जल नदियाँ "जामि-उदकनाम" (निघं० १ । २) (मधुना) स्वजल से "मधु-उदकनाम" (निघं० १ । १२) (पयः) पृथिवी पर अन्न को शरीर में रस को "पयोऽन्ननाम" (निघं० २ । ७) (पृञ्चतीः) संयुक्त करती हुई (अध्वभिः) स्वस्वमार्गों से (यन्ति) बहती हैं॥ १॥

आशय—नदियाँ पृथिवी पर अपने जल से अन्न और शरीर में रस का निर्माण करने के हेतु शब्द करती हुई वेग से बहती हैं। उन से यथोचित लाभ उठाना चाहिए॥१॥

अमूर्या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह।
ता नो हिन्वन्त्वध्वरम्॥ २॥

अर्थ—(याः) जो (अमूः) वे 'आपः' अप् तत्त्व (उप सूर्ये) सूर्यमण्डल में (वा) और "वा समुच्चयार्थे" (निरुक्त। १। ५)

(याभिः सह) जिन के साथ (सूर्यः) सूर्य प्रकाशमान होता है (ताः) वे अप् तत्त्व (नः) हमारे (अध्वरम्) शरीर यज्ञ को एवं अहिंसनीय अमर आत्मतत्त्व को (हिन्वन्तु) प्रेरित करे उत्कृष्ट करे ॥ २ ॥

आशय—'आपः' व्यापक अप् तत्त्व सूर्य मण्डल के अन्दर भी हैं तथा सूर्य उनसे प्रकाशित होता है वे ऐसे अप् तत्त्व किरण रूप में फैलकर हमारे यज्ञ को-शरीर को और अमर आत्मा को विकसित एवं उत्कृष्ट करते हैं ॥ २ ॥

अपो देवीरुप ह्वये यत्र गावः पिबन्ति नः ।
सिन्धुभ्यः कर्त्वं हविः ॥३॥

अर्थ—(यत्र) जहाँ (नः) हमारे (गावः) गौ आदि पशु (पिबन्ति) जल पीते हैं उन पृथिवीस्थ (अपो देवीः) उत्तम जलों को हम उपयुक्त करें (सिन्धुभ्यः) उन बहनेवाले जलों के लिये या उन बहने वाले जलों से (हविः कर्त्वम्) होम दान आदि संशोधन करना चाहिये ॥३॥

आशय—जिन नदी जलाशयों में गौ आदि पशु पानी पीते हैं उनसे नहरें रजवाहे आदि निकाल कर तथा संशोधन और होम से उपयुक्त बनाने चाहिएँ ॥३॥

अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम् ।
अपामुत प्रशस्तिभिरश्वा भवथ वाजिनो गावो भवथ वाजिनीः ॥४॥

अर्थ—(अप्सु-अन्तः) जलों के अन्दर (अमृतम्) अमृत है जीवन देनेवाला गुण है (अप्सु) जलों में (भेषजम्) संशोधक शक्ति है (उत) और (अपाम्) जलों के (प्रशस्तिभिः) उत्तम गुणों से (अश्वाः) घोड़ों (वाजिनः) बलवान् (भवथ) होओ बनो (गावः) गव्वों (वाजिनीः) बलवती (भवथ) होओ बनो ॥४॥

आशय—जलों के अन्दर जीवन देनेवाला तत्त्व है, रोग नाशक शक्ति है। इन के यथोचित पान आदि से घोड़े और गव्वें बलवान् होते हैं ॥४॥

पञ्चमसूक्त—

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन।
महे रणाय चक्षसे ॥१॥

अर्थ—(ताः) वे तुम (आपः) जलो ! (मयोभुवः) सुख-सम्पादक (हि) निश्चय (स्थ) हो (नः) हमें (ऊर्जे) बल के लिये (महे) महान् (रणे) रमणीय (चक्षसे) दर्शन के लिये (दधातन) धारण करो ॥१॥

आशय—जल सुखसाधक एवं बलदायक हैं तथा जलों से नेत्र-मार्जन और स्नान पान आदि द्वारा दर्शनशक्ति भी बढ़ती है ॥१॥

यो नः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः।
उशतीरिव मातरः ॥२॥

अर्थ—(यो वः) हे जलो ! तुम्हारा जो (शिवतमः) कल्याण साधक (रसः) रस है (तस्य नः) उसका हमें (इह) इस जीवन में (उशतीः-इव मातरः) चाहती हुई माताओं की भाँति (भाजयत) सेवन कराओ ॥ २ ॥

आशय—माता जिस प्रकार अपना दूध पिलाकर बालक को पुष्ट करती है इसी प्रकार जल युक्ति से सेवन किए हुए अपने रस से पुष्टि देते हैं ॥ २ ॥

तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ।
आपो जनयथ च नः ॥ ३ ॥

अर्थ—(यस्य) पूर्वोक्त जिस रस के (क्षयाय) हमारे अन्दर संस्थापन करने के लिये (आपः) हे जलो ! (जिन्वथ) हमें तृप्त करते हो (तस्मै) उस रस के लिये-उसकी प्राप्ति के लिये

(वः) तुम्हें (अरं गमाम) पूर्ण रूपेण सेवन करें, क्योंकि (नः) हमें (जनयथ च) उत्पन्न भी करते हो ॥ ३ ॥

आशय—जल शरीर के अन्दर जीवनरस का निर्माण करते हैं और वे प्राणी को एक प्रकार से उत्पन्न भी करते हैं। ऐसे तत्त्ववाले जलों का युक्ति से उपयोग करके लाभ उठाना चाहिये ॥ ३ ॥

ईशाना वार्याणां क्षयन्तीश्चर्षणीनाम्।
अपो याचामि भेषजम् ॥ ४ ॥

अर्थ—(वार्याणाम्) वरणीय गुणों के सेवनीय उत्तम गुणों के (ईशानाः) स्वामीरूप तथा (चर्षणीनाम्) मनुष्यादि प्राणियों के (क्षयन्तीः) वसानेवाले (अपः) जल (भेषजम्) ओषधि को (याचामि) चाहता हूँ-उपयुक्त करता हूँ ॥ ४ ॥

आशय—जलों में सात्म्य होनेवाले शरीर में समानेवाले गुण हैं अतएव प्राणियों के हितकर हैं रोग दूर करते हैं स्वास्थ्य बनाते हैं ॥ ४ ॥

षष्ठसूक्त—

शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये।
शंयोरभि स्रवन्तु नः ॥ १ ॥

अर्थ—(देवीः) दिव्यगुणवाले (आपः) जल (नः) हमारी (अभिष्टये) अभीष्ट सिद्धि के लिये। तथा (पीतये) तृप्ति के लिये (शं भवन्तु) कल्याणकारी हों (शंयोः) सुख की वृष्टि या वर्तमान रोगों की शान्ति और भावी रोग भयों के अभाव को "शंयोः शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम्" (निरुक्त। ४। २२) (नः) हम पर (अभिस्रवन्तु) सब ओर से वर्षायें ॥ १ ॥

आशय—जल हमारी जीवनाभिलाषा के साधनेवाले और आन्तरिक शान्ति देनेवाले हैं तथा जल वर्तमान रोगों को शान्त कर देते हैं, भावी रोग के अंकुरों को नष्ट कर देते हैं ॥ १ ॥

अप्सु में सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा।
अग्निं च विश्वशम्भुवमापश्च विश्वभेषजीः॥ २॥

अर्थ—(सोमः) उत्पादक परमेश्वर ने (मह्यम्) मेरे लिये (अब्रवीत्) उपदेश दिया है कि (अप्सु-अन्तः) जलों के अन्दर (विश्वानि भेषजा) समस्त ओषधियाँ रहती हैं। तथा (विश्व-शम्भुवम्) संसार के कल्याण साधक (अग्निं च) अग्नि को भी बताया है। और (आपो विश्व भेषजीः) स्वयं जल समस्त ओषधियाँ हैं॥ २॥

आशय—जलों के अन्दर 'सब:ओषधियाँ रहती हैं और रोग-नाशक अग्नि (विद्युत्) भी रहती है—जल द्वारा निकाली विद्युत् रोगों के हटाने में उपयोगी है मानो जल ही समस्त ओषधियाँ हैं॥ २॥

आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे मम।
ज्योक् च सूर्यं दृशे॥ ३॥

अर्थ—(आपः) हे जलो! (मम) मेरे (तन्वे) शरीर के लिये (वरुथम्) रोगनिवारक-रक्षण साधक (भेषजम्) ओषधि (पृणीत) देओ-सम्पादन करो "पृणाति दानकर्मा" (नि घं० ३।२०) जिससे (ज्योक् च) चिरकाल तक (सूर्यं दृशे) सूर्य को देख सकूँ॥ ३॥

आशय—जल शरीर में ओषधियों को सात्म्य कर देते हैं और इंन्द्रिय-शक्तियों को बढ़ाकर दीर्घ जीवन प्रदान करते हैं॥ ३॥

शं न आपो धन्वन्याः शमु सन्त्वनूप्याः।
शं नः खनित्रिमा आपः शमु याः कुम्भ आभृताः
शिवः नः सन्तु वार्षिकीः॥ ४॥

अर्थ—(धन्वन्याः) मरु देश के (आपः) जल (नः) हमारे लिये (शं सन्तु) कल्याणकारी हों (खनित्रिमा आपः)

खोदकर निकाले हुए कुएँ-बावड़ी के जल (नः शम्) हमारे लिये सुख साधक हो (याः कुम्भे) जो घड़े आदि पात्र में (आभृताः) भरे हुए जल हैं (शम्-उ) अवश्य सुख-कारक हों (वार्षिकीः) वर्षा के जल (नः) हमारे लिये (शिवाः) शान्ति-प्रद (सन्तु) हों ॥ ४ ॥

आशय—मरुदेश, अनूप देश, कुएँ-बावड़ी, घड़े आदि बर्तनों में रक्खे हुए और वर्षा के जल स्वास्थ्य के उपयोगी बनाकर काम में लाने चाहिये ॥ ४ ॥

आध्यात्मिक दृष्टि

आध्यात्मिक दृष्टि से केवल प्रथम तीन सूक्त ही संगत होते हैं जैसा कि प्राक्कथन में बताया गया है। अतएव उन्हीं सूक्तों के अर्थ यहाँ करेंगे। आध्यात्मिक दृष्टि में 'त्रिषप्ताः' 'त्रिःसप्त' तीन स्थानों में चलनेवाले सात पदार्थ शरीर में दो प्रकार के हैं, प्रथम शरीर के तीन संस्थानों में सात सात अङ्ग हैं, जो कि ऊर्ध्वजत्रु या मूर्धा (गरदन से ऊपर का अङ्ग), मध्यशरीर (धड़), अधोऽङ्ग (नाभि से नीचे का अङ्ग)। इन तीन संस्थानों में सात सात मुख्य अङ्ग हैं। मूर्धा में दो आँखें, दो कान, दो नासिकाछिद्र और मुख, मध्य शरीर में दो भुजाएँ, दो फेफड़े, एक हृदय, दो यकृत् प्लीहा (जिगर तिल्ली)। अधोऽङ्ग में दो गुर्दे, दो कोश, एक उपस्थेन्द्रिय, दो टाँगे। ये तीनों संस्थानों के सात सात अङ्ग स्थूल या सूक्ष्म शक्ति रूप से यद्यपि सभी शरीरों में रहते हैं, परन्तु इनके अन्दर मन्त्र में साथ दी हुई 'परियन्ति' क्रिया का अर्थ नहीं घटता है क्योंकि उक्त अङ्ग शरीर में परिक्रमण या परिभ्रमण नहीं करते। सब ओर प्राप्त हैं ऐसा अर्थ 'परियन्ति' का किया जावे तो भी इनमें गौणरूप से घटता है। अपेक्षाकृत दूसरे प्रकार में 'परियन्ति' का पूर्ण अर्थ घट जाता है और युक्ति संगत है वह यह कि शरीर के अधिनायक

वात, पित्त, कफ इन तीन तत्त्वों में रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र ये सात धातुएँ 'परियन्ति' परिक्रमण करते हैं अर्थात् प्रतिक्षण रचना-क्रिया में परिवर्तित होते रहते हैं अथवा शरीर में सर्वत्र आप्त-व्याप्त हैं शरीर को घेरे हुए हैं। अतएव इन्हीं अर्थों को मुख्य समझ कर मन्त्रार्थ करते हैं।

प्रथम सूक्त—

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥ १ ॥

अर्थ—(ये) जो 'शरीर में प्रधान पदार्थ' (त्रिषप्ताः) शरीर के अधिनायक वात, पित्त, कफ इन तीन मूलतत्त्वों में गुजरनेवाले रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र ये सात पदार्थ (विश्वा रूपाणि) समस्त उत्पन्न प्राणियों को (बिभ्रतः) धारण तथा पोषण करते हुए (परियन्ति) रचना-क्रिया में परिवर्तित होते रहते हैं या शरीर में आप्त-व्याप्त रहते हैं (तेषां बला) उनके बलों को (मे तन्वः) मेरे शरीर में (अद्य) आज-अब-निरन्तर (वाचस्पतिः) शरीर यन्त्र का चालक हृदयस्थ प्राण "प्राणो वै वाचस्पतिः" (श० ४ । १ । १ । ६१) (दधातु) शरीर में धारण करावे ॥ १ ॥

आशय—रस, रक्त, मांस, मेद (मांस के ऊपर की सफेद चिकनी वस्तु), अस्थि (हड्डी), मज्जा (हड्डी के अन्दर की चर्बी), शुक्र (वीर्य) ये सात धातुएँ शरीर का संचालन करनेवाले वात, पित्त, कफ रूप तत्त्वों के अन्दर होते हुए वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक धर्मों को लेते हुए शरीर के अन्दर प्रतिक्षण रचना - रूप परिवर्तन-शील स्थिति को प्राप्त होते रहते हैं। ये स्थूल सूक्ष्म स्वरूप में समस्त प्राणियों को उत्पन्न तथा धारण करते हैं। इनके सामर्थ्य या शक्ति का अधिष्ठाता अथवा केन्द्र हृदयस्थ प्राण है वही

इनको पुष्ट करता तथा चिरकाल तक शरीर में स्थिर रखता है ॥ १ ॥

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह।
वसोष्पते निरमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥ २ ॥

अर्थ—(वाचस्पते) हे प्राण ! तू (देवेन मनसा सह) दिव्य मन के साथ (पुनः एहि) फिर संसार में आ, या बारंबार शरीर में गति कर—निरन्तर चल (बसोः—पते) हे जीव के वासस्थान शरीर यज्ञ या शरीर यज्ञ के पालक ! (मयि) मेरे अन्दर—मेरे शरीर में (एव) अवश्य (निरमय) उन रस आदि धातुओं के बलों को सात्म्य कर—समाविष्ट कर या तू स्वयं निरन्तर रमण कर (मयि) मेरे शरीर में (श्रुतम्) तेरा श्रवणीय—सुनने योग्य लुब् डप् ध्वनि (अस्तु) रहे ॥ २ ॥

आशय—रस आदि धातुओं के ठीक-ठीक रहने से प्राणगति शरीर में निरन्तर ठीक बनी रहती है और दिव्य मन से युक्त ही प्राण रस आदि धातुओं पर अधिकार रखता हुआ उनका बल तथा अपनी ध्वनि का यथावत्-संस्थापक बनता है ॥ २ ॥

इहैवाभि वितनूभे आर्त्नी इव ज्यया।
वाचस्पतिर्नियच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥ ३ ॥

अर्थ—(इह-एव) इसी मेरे शरीर में (ज्यया) धनुष में बँधी डोरी द्वारा (आर्त्नी इव) कोटियों की भाँति (उभे) हृदय के दोनो सिरों को रक्त-प्रवेश और रक्त-निकास के भागों को (अभिवितनु) संगत कर—संयुक्त कर । तथा (वाचस्पतिः) वह आप प्राण (मयि-एव) मेरे शरीर में अवश्य (नियच्छतु) नियन्त्रण करें । और (मयि) मेरे शरीर में (श्रुतम्) श्रवण ध्वनि (अस्तु) रहे ॥ ३ ॥

आशय—हृदय के दो सिरे हैं, एक से शुद्ध रक्त फेफड़ों से

हृदय में आता है दूसरे से हृदय से रक्त रक्तनाडियों में जाता है, इन दोनो सिरों या दोनों द्वारों को हृदयस्थ प्राण विकसित तथा संचित करता है। ऐसे प्राण का नियन्त्रण जब शरीर में उचित रूप से होता है, तभी शरीर स्वस्थ और चिरजीवी बनता है ॥ ३ ॥

उपहूतो वाचस्पतिरुपास्मान् वाचस्पतिर्ह्वयताम् ।
संश्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन विराधिषि ॥ ४ ॥

अर्थ—(वाचस्पतिः) प्राण (उपहूतः) श्वासोच्छ्वास के पूर्ण रूप से ग्रहण करने द्वारा उपयुक्त किया हुआ—दीर्घश्वासोच्छ्वासों से सेवित (वाचस्पतिः) वह प्राण (अस्मान्) हमें (उपह्वयताम्) उपयुक्त करता है, स्वस्थ आयुष्मान बनाता है। (श्रुतेन) उसकी सुनने योग्य गति ध्वनि के साथ ध्यान द्वारा (संगमे महि) संगति करें, संयम करें (श्रुतेन) सुनने योग्य ध्वनि से (मा विराधिषि) मैं वियुक्त न हो सकूँ ॥ ४ ॥

आशय—दीर्घ श्वास और उच्छ्वास लम्बे श्वास लेने या प्राणायाम करने से स्वास्थ्य को लाभ पहुँचता है। हृदयस्थ प्राण की ध्वनि पर ध्यान करने से जीवनीय शक्ति और आत्मबल बढ़ता है तथा आत्मप्रसाद प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

द्वितीय सूक्त—

विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं भूरिधायसम् ।
" " " पर्जन्यं शतवृष्ण्यम् ।
" " " मित्रं शतवृष्ण्यम् ।
" " " वरुणं शतवृष्ण्यम् ।
" " " चन्द्रं शतवृष्ण्यम् ।
" " " सूर्यं शतवृष्ण्यम् ।
विद्मोष्वस्य मातरं पृथिवीं भूरिवर्पसम् ।

अर्थ—(शरस्य) सर सराते हुए गतिमान्-रक्त के (पितरम्)

जनक शरीर में शक्ति प्रेरक अग्नि आदि देवताओं को जानते हैं और इसकी माता पृथिवी को भी जानते हैं ॥

ज्याके परिणो नमाश्मानं तन्वं कृधि ।
वीडुर्वरीयो ऽरातीरप द्वेषांस्या कृधि ॥

अर्थ—(ज्याके) हे ज्या सदृश रक्त धमनी ! (परिणम) उत्तम रक्त रूप शर को फेंकनेवाली बन (नः तन्वम्) हमारे शरीर को (अश्मानं कृधि) सुदृढ़ कर-पुष्ट बना (वीडुः) बल रूपी होती हुई (अरातीः) पुष्टि न देनेवाले शरीरांतर्गत तत्त्वों को । तथा (द्वेषांसि) द्वेष करने योग्य रोग-कृमियों को (अपाकृधि) दूर कर ॥

वृक्षं यद् गावः परिषस्वजाना अनुस्फुरं शरमर्चन्त्यृभुम् ।
शरमस्मद् यावयव दिद्युमिन्द्र ॥

अर्थ—(यत्) कि जिस प्रकार (गावः) धनुष डोरियों की भाँति रक्त नाड़ियाँ (वृक्षम्) स्वाधार हृदयस्थ प्राण को (परिषस्वजानाः) आलिंगन कती हुई (ऋभुम्) शुभ्र (शरुम्) रक्तरूप बाण से (अनुस्फुरम्) प्रेरणा के अनुकूल (अर्चन्ति) फेंक सकें, इस प्रकार (इन्द्र) हे मन "मन एवेन्द्रः" (श० १० । ४ । १ । ६) (दिद्युम्) शुभ्र रक्त रूप (शरुम्) बाण को (अस्मद्) हमारे लिये (यावय) युक्तकर तथा छोड़ ।"

यथा द्यां च पृथिवीं चान्तस्तिष्ठति तेजनम् ।
एवा रोगं चास्रावं चान्तस्तिष्ठतु मुञ्ज इत् ॥

अर्थ—(यथा) जैसे (द्यां च पृथिवीं च-अन्तः) द्युलोक और पृथिवी-लोक के बीच में (तेजनम्) उनका प्रेरक सूर्य तेज (तिष्ठति) रहता है (एव) वैसे ही (रोगं चास्रावं च अन्तः) ऊपर के रोगों और नीचे के कष्टों के बीच (मुञ्ज इत्) प्राण का संशोधक बल अवश्य (तिष्ठतु) रहे ।

तेन ते तन्वे ३ शंकरं पृथिव्यां ते निषेचनम् ।
बहिष्टे अस्तु बालिति ॥

अर्थ—(तेन) उस रक्त रूप बाण से (ते तन्वे) हे पात्र ! तेरे शरीर में (शंकरम्) सुख पहुँचाता हूँ—स्वास्थ्य प्रदान करता हूँ (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (ते निषेचनम्) रक्त का निकृष्ट भाग नीचे झिरनेवाला मूत्र आदि द्रव वस्तु (ते) तेरे स्वास्थ्य के लिये (बालिति) शीघ्र (बहिरस्तु) बाहर आवे ।

आशय—यहाँ शरीर में धनुष के रूपक से मनोवैज्ञानिक चिकित्सा का वर्णन है । मन बाण प्रेरक है, रक्त बाण है, रक्त धमनी धनुष और नाड़ियाँ धनुष की डोरियाँ हैं । मन की शक्ति का इन रक्त आदि पर अधिकार है । स्वस्थ रहने में तथा रोगों को हटाने में मानसिक शक्ति काम करती है । मन रक्त के अन्दर विशेष प्रगति देकर उसके दोषों को मूत्र आदि द्वारा दूर कर सकता है । इत्यादि मनोवैज्ञानिक चिकित्सा के सिद्धान्त लक्षित होते हैं ।

विज्ञप्ति—"यदान्त्रेषु" से लेकर अनुवाक के अन्त तक मन्त्रार्थ अधिदैविक दृष्टि के अनुसार हैं ॥

आधिभौतिक दृष्टि

आधिभौतिक दृष्टि से प्रथम अढ़ाई सूक्त ही सङ्गत होते हैं और इनमें एक एक सूक्त की विषय-वस्तु अलग अलग हैं । यहाँ "त्रिषप्ताः" 'त्रिःसप्त' ज्ञान, कर्म, उपासना रूप वेदत्रय या विद्या-त्रयी में सात गायत्री आदि छन्द हैं और वाचस्पति वाणी का स्वामी या पालक आचार्य है । इस दृष्टि से प्रथम सूक्त का अर्थ निम्न प्रकार है—

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः ।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥ १ ॥

अर्थ—(ये) जो 'विद्याक्षेत्र में प्रधान विषय' (त्रिषप्ताः)

ज्ञान, कर्म, उपासना-रूप विद्यात्रयी में गायत्री आदि छन्द दिव्य वचन (विश्वा रूपाणि) समस्त निरूपणीय तत्त्वों को समस्त विषयों को (बिभ्रतः) धारण पोषण करते हुए नाम निर्देश और वर्णन निरूपण करते हुए (परियन्ति) परिबद्ध करते हैं—स्वायत्त करते हैं (तेषां बला) उनके बलों को उनके लाभों को (मे तन्वः) मेरे शरीर में (अद्य) आज-अब-निरन्तर (वाचस्पतिः) वाक्पति-आचार्य (दधातु) धारण करावे, समझावे-सिखावे ॥ १ ॥

आशय—ज्ञान, कर्म, उपासना रूप क्षेत्रों में विभक्त हुए गायत्री आदि छन्दों द्वारा वर्णन किये जानेवाले संसार के सभी निरूपणीय तत्त्वों का अध्ययन पूर्ण विद्वान् आचार्य से करके यथावत् लाभ होता है ॥ १ ॥

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह।
वसोष्पते निरमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥ २ ॥

अर्थ—(वाचस्पते) हे आचार्य ! तू (देवेन मनसा सह) अपने दिव्य मन के साथ (पुनः-एहि) बारंबार आ, निरन्तर शिक्षा देने के लिये आ (वसोः पते) हे सबको अपने अन्दर बसानेवाली वाणी या विद्यारूप ऐश्वर्य के स्वामिन् ! (मयि) मेरे अन्दर (एव) अवश्य (निरमय) उन वेदविद्याओं को रमा-आत्मगत करा (मयि) मेरे अन्दर (श्रुतम्) श्रवण किया हुआ वचन (अस्तु) हो ॥ २ ॥

आशय—विद्वान् आचार्य जब शुद्ध तथा दिव्य भावयुक्त मन से निरन्तर प्रवचन देता है, तभी विद्याप्रचार तथा योग्यतासम्पन्न शिष्य होते हैं ॥ २ ॥

इहैवाभि वितनूभे आर्त्नी इव ज्यया।
वाचस्पतिर्नियच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥ ३ ॥

अर्थ—(इह-एव) इसी मेरे जीवन में (ज्यया) धनुष

में बन्धी डोरी द्वारा (आर्ली इव) कोटियों की भाँति (उभे) इस लोक तथा परलोक को—अभ्युदय और निःश्रेयस को (अभिवितनु) विद्यात्रयी विषयरूप डोरियों द्वारा संगत करा (वाचस्पतिः) वह आप विद्या का स्वामी (मयि-एव) मेरे अन्दर अवश्य (नियच्छतु) नियमित करें। और (मयि) मेरे में (श्रुतम्) पढ़ा-सुना वचन (अस्तु) रहे॥ ३॥

आशय—सांसारिक कल्याण और पारमार्थिक सुख वेद की शिक्षाओं के ये दो सुपरिणाम हैं। विद्वान् आचार्य के अधीन यम-नियम में रहते हुए उक्त शिक्षाओं का अध्ययन कर अपने दोनो लोक सफल बनाने चाहिये॥ ३॥

उपहूतो वाचस्पतिरुपास्मान् वाचस्पतिर्ह्वयताम्।
संश्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन विराधिषि॥ ४॥

अर्थ—(वाचस्पतिः) विद्वान् आचार्य (उपहूतः) सत्कृत किया हुआ अपनाया हुआ (वाचस्पतिः) वह वाक्पति (अस्मान्) हमें (उपह्वयताम्) सत्कृत करता है—अपनाता है। पुनः (श्रुतेन) श्रवण किये हुए विद्याविषय से (संगमेमहि) हम संयुक्त हो (श्रुतेन) उस श्रवण से (मा विराधिषि) मैं वियुक्त न होऊँ॥ ४॥

आशय—आचार्य का सत्कार करने और उसका अनुवर्ती तथा आज्ञाकारी होने से वह शिष्यों को स्वागत-पूर्वक प्रेम से अपनाता है। इस प्रकार परस्पर के व्यवहार से शिष्य निरन्तर अध्ययन में आगे बढ़ते हैं॥ ४॥

द्वितीय सूक्त—

आधिभौतिक दृष्टि से इस सूक्त में धनुर्विद्या का विषय है, क्योंकि प्रथम सूक्त में विद्या-प्रचार ब्राह्म कर्म आया था अतः इस

दूसरे सूक्त में धनुर्विद्या क्षात्रकर्म का वर्णन किया गया है। यहाँ 'शर' शब्द से शत्रु को हिंसित करनेवाला शस्त्र अस्त्र अभीष्ट है। वह 'शर' शस्त्र अस्त्र अग्नि सूर्य आदि देवताओं के पृथिवी पर प्रकट हुए तत्त्वों से बनते हैं। उनसे शत्रु पर प्रहार और अपनी रक्षा की जाती है यह वर्णन यहाँ है। मन्त्रार्थ निम्न प्रकार है ॥

विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं भूरिधायसम् ।
" " " पर्जन्यं शतवृष्ण्यम् ।
" " " मित्रं शतवृष्ण्यम् ।
" " " वरुणं शतवृष्ण्यम् ।
" " " चन्द्रं शतवृष्ण्यम् ।
" " " सूर्यं शतवृष्ण्यम् ।
विद्मोष्वस्य मातरं पृथिवीं भूरिवर्पसम् ।

अर्थ—(शरस्य) हिंसित करनेवाले बाण, गोली यन्त्र आदि अस्त्र साधन के (पितरम्) जनक प्रेरक अग्नि, सूर्य, विद्युत् आदि देवताओं को हम जानते हैं और इसकी जननी पृथिवी को भी जानते हैं ॥

ज्याके परिणो नमाश्मानं तन्वं कृधि ।
वीडुर्वरीयो अरातीरप द्वेषांस्या कृधि ॥

अर्थ—(ज्याके) हे प्रिय ज्या या ज्या के सदृश अस्त्र फेंकनेवाली स्प्रिंग आदि कला ! (परिणम) बाण, गोली आदि को फेंक (नः तन्वम्) हमारे शरीर को (अश्मानम्) पत्थर जैसा अचल (कृधि) कर (वीडुः) बलरूपी होती हुई (अरातीः) हमें सहायता न देनेवाले विघ्नकारियों को । तथा (द्वेषांसि) द्वेष करनेवाले शत्रुओं को (अपाकृधि) तिरस्कृत कर-हरा ।

वृक्षं यद्गावः परिषस्वजाना अनुस्फुरं शरमर्चन्त्यृभुम् ।
शरुमस्मद् यावय दिद्युमिन्द्र ॥

अर्थ—(यत्) कि जैसे (गावः) धनुष की डोरियों के सदृश स्प्रिग आदि (वृत्तम्) धनुर्दण्ड को—स्प्रिग दण्ड को (परिषस्वजानाः) आलिंगन करती हुई (ऋभुम्) शुभ्र (शरम्) वाण, गोली आदि को (अनुस्फुरम्) प्रेरणा के अनुकूल (अर्चन्ति) फेंक सके ऐसे (इन्द्र) ओ विद्युत्-शक्ति ! साक्षात् बल की मूर्ति ! तू (दिद्युम्) तडतडाते हुए वज्र को "दिद्यु द् वज्रनाम" (निघं० २।२०) (अस्मद् यावय) हमारे लिये—हमारे प्रयोजन के लिये युक्त कर और छोड़। अथवा (अस्मद्) हम से "सुपां सुलुक्० इति भिसो लुक्" (यावय) छुड़वा।

यथा द्यांच पृथिवीं चान्तस्तिष्ठति तेजनम्।
एवा रोगं चास्रवं चान्तस्तिष्ठतु मुञ्ज इत्॥

अर्थ—(यथा) जैसे (द्यां च पृथिवीं च अन्तः) द्युलोक और पृथिवी लोक के बीच में (तेजनम्) उनका प्रेरक सूर्यतेज (तिष्ठति) रहता है (एव) ऐसे ही (रोगं चास्रावं च अन्तः) परपक्ष के फेंके वाण आदि की पीड़ा और उससे निकले रक्त-प्रवाह के बीच प्रेरक (मुञ्ज इत्-तिष्ठतु) संशोधन उपचार "मुञ्ज शुद्धौ" अवश्य रहे।

तेना ते तन्वे ३ शंकरं पृथिव्यां ते निषेचनम्।
बहिष्टे अस्तु बालिति॥

अर्थ—(तेन) उस संशोधन साधन से (ते तन्वे) हे हमारे सैनिक ! तेरे शरीर के लिये (शं करम्) सुख पहुँचाता हूँ स्वास्थ्य प्रदान करता हूँ (पृथिव्याम्) पृथिवी पर-बाहर (ते निषेचनम्) तेरा दोषकारक वाण आदि वस्तु (ते) तेरे स्वास्थ्य के लिये (बालिति) शीघ्र (बहिरस्तु) बाहर आवे।

आशय—यहाँ सूक्त में बन्दूक, तोप आदि अस्त्र अग्नि आदि भौतिक पदार्थों से बनाने और छोड़ने चाहियें तथा विद्युत्-शक्ति

उनको फेंकती है, ऐसे अस्त्रों से शत्रुओं पर शीघ्र विजय प्राप्त होता है ऐसा ध्वनित होता है ।

विज्ञप्ति—आगे अर्थों में कोई विशेषता नहीं है । पूर्व के समान समझें ॥

इस प्रकार प्रथम अनुवाक में विश्व के मूलरूप अप् तत्त्वों के विवेचन से विश्वविज्ञान, सृष्टि-उत्पत्ति, प्राकृतिक चिकित्सा, जल-चिकित्सा, शरीर विज्ञान, रोग-चिकित्सा, मानसिक चिकित्सा, स्वास्थ्य-सम्पादन, विद्यावृद्धि, राष्ट्ररक्षा और परमात्मसत्सङ्ग आदि विषयों का वर्णन आजाने से यह अनुवाक जहाँ अथर्ववेद के महत्त्व को प्रकट करता है वहाँ अथर्ववेद के यथासुखीन या दिग्दर्पण (नमुनने) का काम भी करता है । वास्तव में समस्त अथर्ववेद का विषय भी यही है अत एव इसका दूसरा नाम ब्रह्मवेद है अर्थात् ब्रह्मा का वेद है । अथर्ववेद के मन्त्रों में सृष्टि-निर्माता परमेश्वर, विश्ववेत्ता वैज्ञानिक, खगोलज्ञ ज्योतिषी, ओषधि विज्ञाता और शस्त्रप्रयोक्ता चिकित्सक आदि के लिये ब्रह्मा शब्द आया है । अत एव अथर्ववेद को ब्रह्मवेद कहते हैं, इस विषय में सप्रमाण विस्तरशः हम अपनी "अथर्ववेदीय चिकित्सा" नामक पुस्तक में लिखेंगें । प्रस्तुत पुस्तिका अथर्वभाष्य का एक दिग्दर्पण (नमुना) है । इति ।

प्रियरत्न आर्ष

श्रावणी पूर्णिमा सं० १९९७ वि०

१७ । ८ । १९४० ई०